वेद का आध्यात्मिक और लौकिक प्रवाह

डॉ. श्रद्धा चौहान, पूर्व सह-आचार्य, संस्कृत विभाग, जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय, जोधपुर

''वेद मुख्यतया आध्यात्मिक प्रकाश और आत्म-साधना के लिए अभिप्रेत हैं। इसलिए यही अर्थ पुनरुज्जीवित करना चाहिए।'' श्री अरविन्द के इस कथन के प्रकाश में प्रस्तावित विषय के विस्तार के लिए अथर्ववेद के १०वें काण्ड के दूसरे सम्पूर्ण सूक्त का उल्लेख समीचीन होगा, क्योंकि यह सूक्त सम्पूर्णत: अध्यात्म का ही वर्णन करता है।

अध्यात्म के अन्तर्गत आत्मा, परमात्मा, शरीर, मन, प्राण और वाक् आते हैं। सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि अत्यन्त सहजता से मनुष्य शरीर के एड़ी से लेकर चोटी तक के विभिन्न अंगों के बारे में बताते हुए इसके संचालक के बारे में प्रश्न करता है कि किसने इन्हें बनाया? किसने बाहुओं में बल दिया जिससे यह पौरुष कर सके? कर्मेन्द्रियों के साथ ही ज्ञानेन्द्रियों के बारे में विशेष जिज्ञासा प्रस्तुत करते हुए प्रश्न किया गया है -

क:सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णौ इमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ।। अ.वे. १०.२.६

अर्थात् किसने इसके शिर में दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो चक्षु और मुख रूप सात छिद्र बनाए? जिनकी विजय की महिमा में यह द्विपाद चतुष्पाद होकर याम (यम-नियम के मार्ग) पर चलता है। यहाँ पर इन सात छिद्रों के माध्यम से हमारी श्रवण, घ्राण, दर्शन और स्वाद और स्पर्श नामक पंच ज्ञानेन्द्रियों में से चार का उल्लेख किया गया है, लेकिन स्पर्शेन्द्रिय त्वक् के माध्यम से इनमें समाविष्ट है। इस मन्त्र में ''येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि'' अर्थात् इन ज्ञानेन्द्रियों की बहुमुखी विजय की महिमा में द्विपाद चतुष्पाद होकर जाते हैं, यह पद विशेष विचारणीय है। ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के मार्ग को जानने के लिए हमें 'यामम्' पद पर विचार करना होगा। इस शब्द में प्रयुक्त यम् धातु यम, नियम और संयम की सूचक है। शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को जानने वाली इन ज्ञानेन्द्रियों को यदि जीवन के प्रारम्भ में ही यम, नियम के मार्ग (याम) पर चलने का अभ्यास करा दिया जाए तो अन्नमय और

प्राणमयकोशों पर आरूढ द्विपाद मनोमय पुरुष ही विकसित होकर अन्न, प्राण, मन और विज्ञानमय कोशों के आधार पर चतुष्पाद आनन्दमय पुरुष हो सकता है। जबड़ों के मध्य चलने वाली जिह्वा और उसमें आश्रित मही वाक् का स्मरण कर उसके विधाता के विषय में ऋषि का कहना है ''सब प्रकार के कर्मों को प्रकाशित करने वाला वह सब भुवनों में व्याप्त हो रहा है उस ''ऊँ तत्'' को किसने जाना?

द्विपाद और चतुष्पाद

कौन है यह दो पैरों वाला और वह चार पैरों वाला कैसे हो सकता है? आइये, सबसे पहले इस रहस्य को जानें। इसके लिए वैदिक दृष्टि से मानव-व्यक्तित्व का परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। सुन्दर वस्त्राभूषणों से आवेष्टित स्त्री या पुरुष देह को ही मनुष्य नहीं कहा जा सकता।

वेद के अनुसार ''नरो वै देवानां ग्राम:'' अर्थात् मनुष्य देवों का समूह है। उपर्युक्त अथर्ववेदीय सूक्त के दो मन्त्रों[1] में अथर्वा के शिर का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि अथर्वा ने मूर्धा तत्त्व (ज्ञानपक्ष) और हृदयतत्त्व (भावपक्ष) की परस्पर सिलाई की तब किसी ऊर्ध्व पवमान ने शीर्ष स्थान से प्रेरित किया। यही अथर्वा का शिर देवकोश है जिसकी रक्षा मन, प्राण और अन्न करते हैं। मन्त्र में उल्लिखित ऊर्ध्व पवमान, देवकोश, मन, प्राण और अन्न मनुष्य व्यक्तित्व के उन पंच स्तरों के बारे में बताते हैं जिन्हें तैत्तिरीयोपनिषद् पंचकोश कहता है। लेकिन इसी सूक्त के ३१ और ३२वें मन्त्र में एक अन्य कोश का भी वर्णन है जो आठ चक्र और नौ दरवाजों वाली देवों की पुरी अयोध्या (जिसमें कभी युद्ध नहीं होता) में स्थित है। यह हिरण्ययकोश है जो ज्योति से घिरा हुआ स्वर्ग है। इस हिरण्ययकोश में तीन अरे और तीन प्रतिष्ठाएं हैं जिसमें आत्मा से संयुक्त ब्रह्म विराजमान है उसी को ब्रह्मवेत्ता जानते हैं -

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्यय:कोश: स्वर्गो ज्योतिषावृत: ।।
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वतद्वै ब्रह्मविदो विदु:।। (अ. वे. १०.२.३१-३२)

यहां पर आठ चक्र नौ द्वारों वाली जिस पुरी का वर्णन है वह निश्चित रूप से मनुष्य-व्यक्तित्व ही है। इसके नौ द्वार हैं दो आँखें, दो कान, दो नासिका छिद्र, एक मुख, मूत्र और मल विसर्जन के अंग। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, ललना, आज्ञा और सहस्रार नामक चक्र योग की दृष्टि से वे स्थान हैं जहाँ साधक अपनी चेतना को एकत्रित कर विभिन्न कोशों में योग स्थापित करता है।

१. मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्। मस्तिष्कादूर्ध्व: प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षत:।।
तद्वा आथर्वण:शिर: देवकोश: समुब्जित:। तत्प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मन:।।
(अ.वे.१०.२.२६-२७)

ये छह कोश हैं –

१. अन्नमयकोश २. प्राणमयकोश ३. मनोमयकोश ४. विज्ञानमयकोश ५. आनन्दमयकोश ६. हिरण्ययकोश।

अन्न से पोषित, अस्थि, मांस और मज्जा से निर्मित हमारे शरीर को वेद की भाषा में अन्नमयकोश कहा गया है, क्योंकि इसके कण–कण में प्राण छिपा हुआ है। कोश उस पात्र को कहते हैं जिसमें कोई अमूल्य वस्तु सुरक्षित रखी जाती है। हमारे अन्नमय शरीर में चूंकि प्राण निहित हैं, इसलिए यह अन्नमयकोश कहलाता है। शरीर का संचालक प्राण शरीर रूपी पुर में निवास करने के कारण प्राणमयपुरुष कहलाता है। यह भी स्वयं कोश है, क्योंकि इसके अन्दर मन ओतप्रोत है, अत: इसे प्राणमयकोश कहा गया है। मन भी कोश है, क्योंकि इसके भीतर इसका संचालक विज्ञानमयपुरुष सुरक्षित है, अत: इसे मनोमयकोश कहा जाता है। विज्ञान भी अपने संचालक आनन्दमयपुरुष को छिपाए हुए है, अत: इसे विज्ञानमयकोश कहते हैं। आनन्द के भीतर इन सबका संचालक हिरण्ययपुरुष छिपा हुआ है, अत: इसे आनन्दमयकोश कहा जाता है। हिरण्यय भी कोश है, क्योंकि इसके भीतर चमकती हुई एक ऐसी पुरी है जिसे कोई पराजित नहीं करता, इसीलिए उसे वेद में ''अपराजिता पुरी'' कहा गया है। हिरण्ययकोश की अपराजिता पुरी में ब्रह्म निवास करता है। यह सातवाँ स्तर है। अन्नमयकोश से लेकर हिरण्ययकोश और अपराजिता पुरी पर्यन्त सभी कोशों को निम्नांकित चित्र द्वारा समझ सकते हैं –

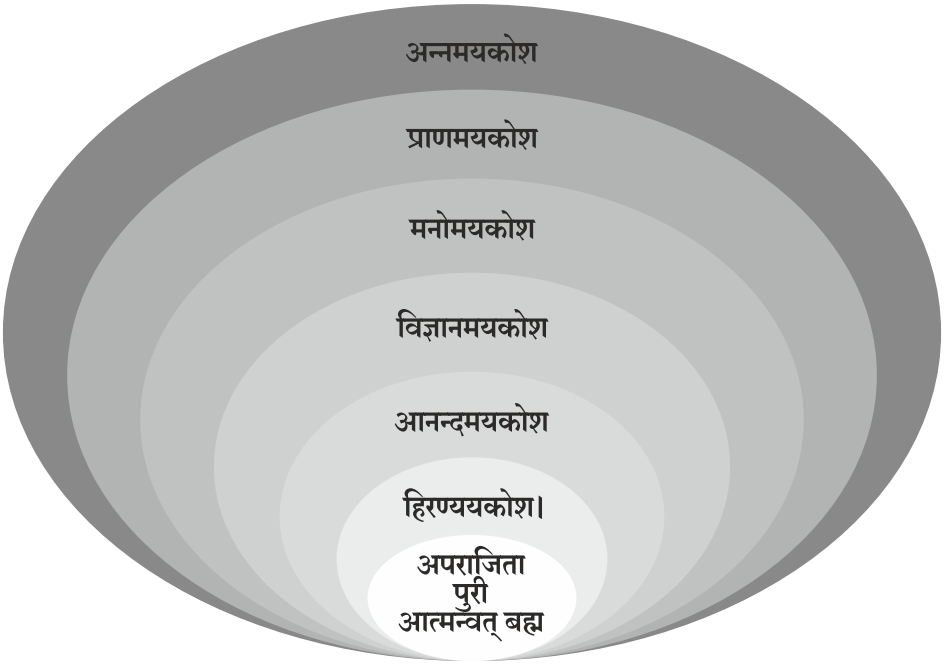

अन्नमय और प्राणमयस्तर मानो मनोमयपुरुष के दो जानु हैं इन पर आरूढ वह द्विपाद कहलाता है। यही अपनी ज्ञानेन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर, यम-नियम और संयम के मार्ग पर चलकर विकसित होता हुआ आनन्दमयपुरुष हो जाता है, जो विज्ञानमय से लेकर अन्नमय तक अपने चारों कोशों पर आरूढ़ होकर चतुष्पाद हो जाता है।

अव्यक्त और व्यक्त स्तर

अथर्ववेद १९.६८.१ के निम्नांकित मन्त्र में किन्हीं अव्यक्त और व्यक्त स्तरों का वर्णन प्राप्त होता है

अव्यस: च व्यचस: च बिलं वि स्यामि मायया।
ताभ्याम् उत्ऽहृत्य वेदम् अथ कर्माणि कृण्महे।।

मन्त्र में जिस अव्यक्त स्तर (अव्यस:)[२] की बात कही गई है वह अथर्ववेद १०.२.३१ में वर्णित अयोध्यापुरी के अपराजितापुरी, हिरण्ययकोश, आनन्दमयकोश और विज्ञानमयकोश हैं। ये चारों मानवव्यक्तित्व रूपी अयोध्या पुरी के अव्यक्त स्तर हैं, जबकि मनोमयकोश, प्राणमयकोश और अन्नमयकोश व्यक्त स्तर हैं। इन दोनों स्तरों के मध्य बिल अर्थात् अज्ञान रूप विवर का विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा संसीवन करके ही वेदोद्धार किया जा सकता है और इसके उपरान्त हम कर्म करते हैं।

प्रस्तुत मन्त्र में यह बताया गया है कि साधक अपनी साधना का प्रारम्भ बिखरी हुई चित्तवृत्तियों को एकाग्र करता हुआ बिल्कुल एकाकी हो जाता है। यह उसका व्यक्तिगत प्रयत्न है, इसीलिए 'वि स्यामि' कहकर उत्तम पुरुष की क्रिया का प्रयोग किया गया है। व्यक्त और अव्यक्त कोशों के मध्य की दूरी को सिलने से अभिप्राय योग से है। अव्यक्त और व्यक्त के मध्य जो दूरी है उसकी समाप्ति या संसीवन साधक माया अर्थात् अपनी विशिष्ट प्रज्ञा द्वारा करता है। इन दोनों स्तरों के संसीवन से ''वेद'' नामक मूल चेतना को बाहर निकालने का अर्थ है ''वेद''[३] का मनोमय, प्राणमय और अन्नमयकोशों में अवतरण । यही वेद अथर्ववेद १९.७१.१ में ब्रह्मवीर्य[४] कहा गया है। वेद नामक तत्त्व जो कि ब्रह्मवीर्य है उसे जिस कोश से साधक बाहर निकालता है पुन: उसी में इसका पुन:स्थापन भी करता है। जिस ब्रह्मवीर्य

२. व्यच् व्याजीकरणे (काशकृ.धा. पा) से निष्पन्न। डॉ फतहसिंह के अनुसार यह वेद की भाषा की विशेषता है कि जब अव्यक्तस्तर का वर्णन करना होता है तो या मूल धातु का एक अक्षर लुप्त होता है। सामान्यत: भाष्यकारों द्वारा छान्दस लोप कहकर इतिश्री करली गई है।
३. मूलचेतना का द्योतक होने के कारण वेद शब्द आदि उदात्त स्वरांकित होता है।
४. यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह।। अ.वे. १९.७२.१.

से वह अपना इष्टकर्म करता है, वस्तुत: वह तप है। ऋषि कहता है कि हे देवों! तप रूप ब्रह्मवीर्य[५] के साथ आप व्यष्टिगत स्तर पर आकर मेरी रक्षा करें। इसके उपरान्त साधक की कर्मेन्द्रियां समस्त शुद्ध चित्तवृत्तियों के साथ जो कर्म करती हैं, वह यज्ञ[६] कहलाता है।

वेद–प्रवाह

वस्तुत: ''यज्ञ'' आन्तरिक वेद का लौकिक–प्रवाह है जो अन्तस्तल (भूमि) को रसाप्लावित करता हुआ बाह्य तल (पृथिवी) को भी परिष्कृत करता है। यही कारण है कि ''वेद'' रूप भा (प्रकाश) में रत रहने वाली भारतभूमि पर मानव की जिस भाषा का सर्वप्रथम जन्म हुआ उसे संस्कृत कहा गया। वेद के इस प्रवाह से हमारा जनमानस इतना अधिक ओतप्रोत रहा है कि हम आज भी अनजाने में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध आन्तरिक वेद से है; उदाहरण के लिए कुछ बहुप्रचलित शब्दों को लेते हैं, जैसे पाप और पुण्य, मानव और मनुष्य, पराकाष्ठा, विश्व और सर्व, अलंकार, अर्य और आर्य, उत्कृष्ट और निकृष्ट, नमस्ते, स्वस्ति और शुभाशिष: आदि।

पाप और पुण्य

कहते हैं कि व्यासजी ने १८ पुराणों की रचना पाप और पुण्य का ही विश्लेषण करने के लिए की थी। परोपकार पुण्य देने वाला है तो दूसरे को पीड़ा पहुँचाने से पाप मिलता है। यह तो समझ में आता था कि झूठ और परपीड़न पाप का, तो दूसरों की भलाई पुण्य का कारण है; लेकिन ये पाप और पुण्य, असत् और सत् आदि क्या है?

मुझे ये प्रश्न उस समय तक अनुत्तरित रहे, जब तक वेद संस्थान नई दिल्ली से प्रकाशित पत्रिका 'वेदसविता' में 'जिज्ञासा–समाधान' के अन्तर्गत डॉ. फतहसिंहजी का 'पाप और पुण्य का भेद' शीर्षक युक्त लेख नहीं पढ़ा था। इसके अनुसार, ''पाप और पुण्य के तात्त्विक भेद को जानने के लिए गहराई में जाने की जरूरत है। यह गहराई दार्शनिक ऊहापोह में नहीं मिलती। इसके लिए वेद की शरण में जाना होगा। वेदों में जीवनतत्त्व प्राण का वर्णन है। प्राण का एक नाम उदक भी है। उदक का शाब्दिक अर्थ होता है ऊपर की ओर गति करने वाला''।

उपर्युक्त लेख में वेदर्षि डॉ. फतहसिंह जी ने बताया, ''जैसे रक्त फेफड़ों में जाकर शुद्ध होता है, उसी प्रकार प्राण मन को ऊपर खींचकर पावन करते हैं। इसका अभिप्राय है कि मन समेत अन्नमयशरीर की समस्त वृत्तियों को ऊर्ध्वगामी करते हुए प्राण (उदक) उन्हें पवित्र करते हैं। इसलिए प्राणों का

५. सक्रिय रचनात्मक अर्थ में प्रयुक्त वीर्य पद अन्तोदात्त है। संहिताओं में वेद शब्द आदि उदात्त और अन्तोदात्त दोनों ही रूपों में मिलता है। जब सक्रिय रचनात्मक अर्थ का अभिव्यक्त करता है तो यह अन्तोदात्त होता है।

६. यज्ञो वै (हि तै) श्रेष्ठतमं कर्म । काठ. ३०.१०; तै. ३.२.१.४; माश. १.७.१.५.

ऊर्ध्वगमन निरन्तर चलते रहना चाहिए। इससे मनुष्य का आचार विचार शुद्ध रहता है। अत: वे प्राण पुण्य कहलाते हैं। इस जीवनतत्त्व (प्राण) के १०१ रूप हैं। इसीलिए उदक के वैदिक शब्दकोश निघण्टु में १०१ पर्यायवाची नाम हैं।''[७]

आप: – पाप:

''इनमें से एक नाम है 'आप:'। आप: का अर्थ है 'चारों ओर व्याप्त'। हमारे भीतर व्याप्त 'आप:' प्राणों का जब 'पात' (पतन) होता है, तो उस स्थिति को 'पाप' कहा जाता है। 'पातात् आप: पापा: भवन्ति' ; पात अर्थात् पतन को प्राप्त कर आप: पाप हो जाते हैं, क्योंकि अब आप: पवित्र होने के लिए मन से ऊपर जाना बन्द कर देते हैं। वे केवल तन, मन के विकार में फंसे रहते हैं। आप: के पात (गिरावट) का मूल कारण अहंकार है। वेद में अहंकार को अहि' (सर्प) कहा जाता है। इसके बच्चे काम, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, घृणा आदि हैं। ये सभी, अहंकार रूप अहि की भाँति विष उगलते रहते हैं। इसके फलस्वरूप आप: का पात (गिरावट) हो जाता है और विचार आचार आदि सब कुछ पापमय होकर तन–मन के अनेक रोग पैदा कर देते हैं। इस प्रकार जीवन नरक बन जाता है।

इसके विपरीत जब प्राण, उदक (ऊर्ध्वगामी) होकर, मन को ऊपर की ओर खींचते हैं तो आनन्द, शान्ति और सुख का प्रवाह तन, मन में सर्वत्र होने लगता है। ऊर्ध्वगामी होकर प्राण मनुष्य–चेतना को विकार रहित और पवित्र करते हैं। अहंकाररहित निष्काम कर्म से, विषय–भोगों की लिप्सा छोड़कर विरक्त भाव अपनाने में अथवा चित्तवृत्तियों को समेटकर मन को निर्विषय बनाने में हमारे भीतर जो सुख–सरिता प्रवाहित होती है वह प्राणों की ऊर्ध्वगति का परिणाम है। यही पुण्य है–''पूयते अनेन इति पुण्यम्। यह तन–मन को पावन करने वाला है।''

मानव और मनुष्य

सामान्यत: ये दोनों शब्द एक–दूसरे के पर्याय माने जाते हैं, लेकिन मूल ''वेद'' के आध्यात्मिक और लौकिक प्रवाह का उसी प्रकार सर्वोत्कृष्ट उदाहरण हैं, जैसे याग और यज्ञ। मनु शब्द से अपत्य अर्थ

७. अर्ण:। क्षोद:। क्षद्म। नभ:। अम्भ:। कबन्धम्। सलिलम्। वा:। वनम्। घृतम्। मधु। पुरीषम्। पिप्पलम्। क्षीरम्। विषम्। रेत:। कश:। जन्म। वृबूकम्। बुसम्। तुग्रया। बर्बुरम्। सुक्षेम। धरूणम्। सिरा। अररिन्दानि। धस्मन्वत्। जामि। आयुधानि। क्षप:। अहि:। अक्षरम्। स्रोत:। तृप्ति:। रस:। उदकम्। प्रय:। सर:। भेषजम्। सह:। शव:। यह:। ओज:। सुखम्। क्षत्रम्। आवया:।शुभम्। यादु:। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। महत्। आप:। व्योम। यश:। मह:। सर्णीकम्। स्वृतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गम्भरम्। ईम्। अन्नम्। हवि:। सद्म। सदनम्। ऋतम्। योनि:। ऋतस्य योनि:। सत्यम्। नीरम्। रयि:। सत्। पूर्णम्। सर्वम्। अक्षितम्। बर्हि:। नाम। सर्पि:। अप:। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दु:। हेम। स्व:। सर्गा:।शम्बरम्। अभ्वम्। वपु:। अम्बु। तोयम्। तूयम्। कृपीटम्।शुक्रम्। तेज:। स्वधा। वारि। जलम्। जलाषम्। इदम्। इत्येकशतमुदकनामानि।। नि. १,१२

में मानव और मनु से षुक् और यञ् प्रत्यय लगकर मनुष्य शब्द बने हैं। वेद में मनु उस मननशील आत्मचेतना का नाम है जो विवस्वान् (वासना रहित) व्यक्तित्व में उस समय जन्म लेती है जब यम-नियम के पालन से उसमें आत्मसंयम उत्पन्न हो जाता है। संयमशील जीवात्मा ही वैवस्वत-यम है। इसके उपरान्त मनु नामक आत्मचेतना का विकास हो जाता है। संयम-मार्ग पर चलते हुए मनु चेतना जिस ब्रह्मात्म-सायुज्य बोध के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहती है, वेद में उसे 'पूर्वचित्त' कहा गया है। अन्नमय से लेकर आनन्दमय स्तर पर्यन्त 'पूर्वचित्ति' के लिए अग्रसर मननशील आत्मचेतना मानव को जन्म देती है। मनु के विकास के इन आयामों को नाभानेदिष्ठ, नाभाक, नहुष, चक्षु और शार्यात नामक पाँच मनु-पुत्रों (मानवों) के रूप में देख सकते हैं।[८] अभिप्राय यह है कि स्थूल स्तर से 'इदं न मम' की भावना के साथ साधना का प्रारम्भ कर निरन्तर हिरण्ययकोश की ओर आरोहण करती हुई चेतना मानव कहलाती है और समाधि की अवस्था को प्राप्त करने के उपरान्त व्युत्थान करते हुए वही मनु हिरण्ययकोश से आनन्दमयादि कोशों में अवतरण करता है 'मनुस्'(मनुष्य) हो जाता है। इस अवतरण यात्रा में मनुस् हिरण्ययकोशीय प्रज्ञानब्रह्म को अपने साथ लाता है, अत: वेद कहता है – मनुर्भव जनया दैव्यं जनम् अर्थात् मनु बन मननशील आत्मचेतना दिव्यजन को उत्पन्न करो। हिरण्ययकोश में ब्रह्मात्म सायुज्य की अवस्था को ही प्रलय कहा गया है। प्रलीनावस्था से सृष्टि में सहायक होती है ब्रह्म की शक्ति जो घोषणा कहती है – अहं राष्ट्री संगमनी वसूनाम्। चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।। परब्रह्म की यह शक्ति ''परा'' कहलाती है। यहीं से आध्यात्मिक सृष्टि का सर्जन होता है। अत: यह अन्तिम सीमा है। पराशक्ति ही चरम सीमा है इसके बाद कुछ भी नहीं इस अर्थ में हम ''पराकाष्ठा'' शब्द का प्रयोग करते हैं।

विश्व और सर्व

हमारे सर्वाधिक प्रयोग में आने वाला विश्व और सर्व शब्द-युग्म है। वेदों में विश्व और सर्व पदों का प्रयोग बहुत हुआ है। सामान्यत: भाष्यकार इन दोनों शब्दों का अर्थ 'समस्त' करते हैं। विश्व शब्द प्रवेशार्थक ''विश्'' धातु से तो सर्व गत्यर्थक ''सृ'' धातु से बना है। अत: हम विश्व और सर्व को एक दूसरे के पर्याय के रूप में नहीं ले सकते। वेद में ये दोनों पद पर्याय नहीं हैं यह बात निम्नलिखित मन्त्रों से स्पष्ट होती है –

सर्वतो न: शकुने भद्रमा वद विश्वतो न: शकुने पुण्यमा वद।। (ऋ. २.४३.२.)

या पुरस्तात् युज्यते या च पश्चात् या विश्वतो युज्यते या च सर्वत: ।। (शौ. १०. ८.१०)

८. विशेष अध्ययन के लिए देखें, लेखिका की पुस्तक 'मानव व्यक्तित्व की वैदिक गवेषणा।'

इन दोनों मन्त्रों में विश्व और सर्व पद का प्रयोग यह स्पष्ट कर रहा है कि यहाँ पर दो भिन्न स्तरों का वर्णन किया जा रहा है। वेदों के आध्यात्मिक भाष्यकार डॉ फतहसिंह ने धातुपरक निर्वचन करते हुए विश्व को 'अन्तर्मुखी चेतना स्तर और सर्व को बहिर्मुखी चेतना क्षेत्र का वाचक पद माना है। अत: वेदों में अन्तर्जगत् की ओर गति करने वाली चेतना को ''विश'' और बाह्य-जगत् की ओर सरणशील चेतना को ''सर्वा'', ''सरण्यू'' या ''सरस्वती'' कहा गया है। वस्तुत: विश्व और सर्व स्तर पर विचरण करने के कारण ही वेद में प्राण को विश्वेश्वर, विश्वजन्मा[९] या सर्वेश्वर[१०] अथवा सर्वजन्मा कहा गया है।

अन्तर्जगत् को आर्य बनाएं

वेद का एक बहुप्रचलित वाक्य है '' कृण्वन्तो विश्वमार्यम् ''। यह आर्य समाज का ध्येय-वाक्य है। सम्पूर्ण मन्त्र इस प्रकार है - इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुर: कृण्वन्तो विश्वमार्यम् । अपघ्नन्तो अराव्ण:।।(ऋ. ९, ६३, ५) । उपर्युक्त व्याख्या के आलोक में अगर हम इसे देखें तो इसका अर्थ होगा - प्राणों के प्रेरक इन्द्र को बढ़ाते हुए और बाधक तत्त्वों का विनाश करते हुए अपने अन्तर्जगत् को आर्य बनाते हुए। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह आर्य क्या है ?

आर्य - आर्य का अर्थ है श्रेष्ठ। शाब्दिक विश्लेषण करने पर आर्य का आन्तरिक वेद से सम्बन्ध उद्घाटित होता है। आ + अर्य = आर्य। 'आ' उपसर्ग का प्रयोग सम्पूर्णता को बताता है, अत: आर्य का अर्थ होता है सम्पूर्णत: अर्य। पुन: अर्य का विश्लेषण करने पर हम उसके मूल में पाते हैं, वह सर्वोच्च तत्त्व जिसे वेद में 'अरम्' कहा गया है। अरम्+यत् = अर्य अर्थात् अरम् बनने के योग्य। वस्तुत: जिसमें 'अरम्' बनने या उसको पाने की सामर्थ्य है, वह अर्य कहलाता है। इससे ज्ञात होता है कि आर्य के मूल में अरम् है।

अरम् का रहस्य - 'अरम्' शब्द वेद के अनेक मन्त्रों में प्राप्त होता है। इनका अध्ययन करने से समझ में आता है कि 'अरम्' कोई ऐसा तत्व है जिसे प्राप्त कर लेने पर अग्नि, इन्द्रादि देवता अर्य कहलाते हैं। ''अरम् '' के वैदिक प्रयोगों की व्याख्या से पूर्व हमें अपने दैनिक व्यवहार में आने वाले 'अरों' के उपयोग को भी ध्यान में लाना होगा। किसी पहिए को देखें, उसके केन्द्र से निकल कर कुछ ताड़ियां परिधि की ओर जाती दिखाई देती हैं।

ये सभी 'अरे' केन्द्र और परिधि पर पड़ने वाले भार को सामूहिक रूप से वहन करते हैं। यदि एक भी 'अर' टूट जाता है तो भी दूसरे अरे पहिये को सशक्त रखते हैं। आइए, अरों की इस विशेषता द्वारा हम

९. यो अस्य विश्वजन्मन: ईशे विश्वस्य चेष्टत:। अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते।। शौ. ११, ४, २३.
१०. यो अस्य सर्वजन्मन: ईशे सर्वस्य चेष्टत: । अतन्द्रो ब्रह्मणा धीर: प्राणो मानु तिष्ठतु ।। शौ. ११, ४, २४

वैदिक 'अरम्' को समझें। वेद का 'अरम्' शब्द ही अपनी तात्त्विक गुरुता के कारण लौकिक संस्कृत में '**अलम्**' हो गया और पर्याप्त अथवा सम्पूर्ण अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। जहाँ सुरुचि या सुघड़ता को अभिव्यक्ति देनी होती है तो हम 'अलम्' पद का प्रयोग करते हैं। अरंकृति, अलंकृति और अलंकार जैसे शब्द इसके उदाहरण हैं।

वैदिक अरम् –

वेद के अनुसार यह 'अरम्' अद्भुत है, व्यापक है और विविधता को अपने में समेटे हुए एक ऐसा पूर्ण तत्त्व है जो एक केन्द्र में स्थित है। जिसे पाने के लिए सर्वप्रथम हमें अपने प्रज्ञानरूप अग्नि को जागरित करना होगा। जिसका प्रज्ञान जागरित हो गया है अथवा वेद की भाषा में कहें कि अग्नि समिद्ध हो गया है, वह व्यक्ति प्राणिमात्र में निष्ठा रखता हुआ श्रेष्ठतम कर्मरूप यज्ञ को प्रतिदिन सम्पादित करने लगेगा। हमारे स्थूल शरीर में हर पल प्रज्ञानाग्नि को समिद्ध करना चाहिए, इस बात को समझाने के लिए पुरुषाकार यज्ञ–वेदि में अग्नि को समिद्ध किया जाने लगा। लेकिन इसे केवल कर्मकाण्ड ही नहीं समझना चाहिए। इस कार्य का प्रारम्भ प्रत्येक व्यक्ति अपने स्थूल–शरीर द्वारा कर सकता है।

हमारे प्रात:स्मरणीय गुरुवर्य डॉ. फतहसिंह जी का मानना था कि मानवदेह रूपी वेदि ही अरम् प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। आत्मसाधना का प्रारम्भ पुर:स्थित अग्नि को समिद्ध करने से होता है, यही मानवदेह रूपी वेदि का प्रथम अरंकरण है। इस वेदि को अरं से युक्त करने के लिए का आदेश देता हुआ ऋग्वेद १.१७०.४ कहता है –

अरं कृण्वन्तु वेदिं समग्निमिन्धतां पुर:। तत्रामृतस्य चेतनं यज्ञं तनवावहै।।

यहां वेदि को अरं बनाने अभिप्राय मनुष्य शरीर को सम्पूर्णत: उस 'अरं' नामक सर्वोच्च तत्त्व से परिपूर्ण करना जिसे वेद में 'मह: सु' कहा गया है। तभी पुरोहित अग्नि सम्यक् प्रदीप्त होगा, जिसके द्वारा समस्त चेतना–शक्तियाँ अमृत के चेतनयज्ञ को सम्पादित करेंगी। इसी प्रक्रिया को उपनिषद् में इस सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया है –'असतो मा सद् गमय' अर्थात् स्थूलस्तर (जो कि असत् है) से मुझे सत् अर्थात् सूक्ष्म या विश्व की ओर प्रेरित करो।

ऋग्वेद का प्रारम्भ ही प्रज्ञानरूप अग्नि के ईडन द्वारा होता है जो वैयक्तिक साधना की ओर इंगित करता है। जन जन के शरीर रूपी पुर में निवास करने के कारण पुरोहित कहलाने वाले प्रज्ञानाग्नि की उत्कण्ठापूर्वक कामना ही उसे स्थूलस्तर पर समिद्ध करने में सहायक होती है। वस्तुत: यही देवी, देवताओं का जागरण है, न कि रात्रि में डी.जे. लगाकर देवजागरण के नाम पर हल्ला गुल्ला करना। सम्यक् रूप से जाग्रत् प्रज्ञानाग्नि ही स्वार्थ–त्याग, दान, प्रेम, उदारता, क्षमा आदि दिव्य गुणों को जीवात्मा द्वारा साधक के मनोमयशरीर में अवतरित करने का माध्यम बनता है। इसीलिए ऋग्वेद

१.१४२.४ में कहा गया है –

'ईळितो अग्न आ वहेन्द्रं चित्रमिह प्रियम्'

इस प्रकार यज्ञ करने से जब साधक की भावनाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति क्रमश: भारती, इळा और सरस्वती नाम धारण करती हुई व्यक्तित्व रूपी बर्हि (यज्ञ का आसन) पर आसीन होती हैं, तो उसे अद्‌भुत, व्यापक, विविधता को अपने में समेटे हुए एक ऐसे तत्त्व के दर्शन होते हैं जिसे अनिर्वचनीय होने के कारण वेद में 'तत् अरम्' नाम दिया गया है। यह वस्तुत: 'मह: सु' अर्थात् महान् सौंदर्य है जिसकी कामना हम सभी करते हैं। अरं नामक महान् सौन्दर्य की प्राप्ति का लक्ष्य सम्मुख रखकर स्थूलस्तर पर मानवता के कल्याण में लगा हुआ साधक परहित, परसेवा रूप श्रेष्ठतम कर्मों को करता हुआ जब अपने मनोमयकोश की मानसिक शक्तियों को भी शुद्ध कर लेता है तो उसका आन्तरिक स्तर (विश्व) अर्य बनने में समर्थ हो जाता है।

आत्मा के उस महान् सौन्दर्य (मह: सु अरम्) से साधक की समस्त इच्छा, ज्ञान और क्रियाशक्तियों का तन्तुजाल 'अरं' होकर मन को 'निकाम अरमनस' बना देता है। मन का अरं से युक्त होना तभी सम्भव है जब आनन्दरस रूप सोम हमारे अतिमानसिक और समस्त स्थूल-स्तर को अरं करे, ताकि हमारी इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियां पूर्णत: सत्यनिष्ठ बन सकें। समस्त व्यक्तित्व के अरंकरण की व्याख्या करते हुए डॉ. फतहसिंहजी[११] कहते हैं कि ''यह अरंकरण ही वस्तुत: अलंकरण है जिसका अर्थ है इच्छा, क्रिया, ज्ञान को मनसा, वाचा, कर्मणा शुद्ध करना । यह अलंकार ही वस्तुत: सौन्दर्य है क्योंकि इसके बिना स्वस्ति का सौन्दर्य-सूर्य प्राप्त नहीं हो सकता है।

जो जीवात्मा इस अरं की प्राप्ति के लिए (अरंगमाय) प्रयत्नशील है (ऋ. ८.४६.१७) वह 'अर्य' कहलाता है और इसके समस्त गुण इसकी पुष्टि या सम्पत्ति है। जो अर्य 'अरं' को प्राप्त कर लेता है, वह आर्य है। **वैदिक दर्शन और जीवन का लक्ष्य 'आर्य' बनना, आर्य नामक सौन्दर्य ज्योति को प्राप्त करना ही है– विश्व नामक जीवन को आर्य बनाना ही है (कृण्वन्तो विश्वमार्यम्)।**

अपने इस अर्य नामक आन्तरिक बल के साथ जब वह कर्मक्षेत्र में सक्रिय होता है तो आ+अर्य=आर्य कहलाता है। ऐसा आर्य व्यक्तित्व सामाजिक उत्तरदायित्व को वहन कर समाज को एक नई दिशा प्रदान करता हुआ भगवान् हो जाता है। ईस्वी सन् से सहस्र वर्ष पूर्व भारत भूमि पर जन्मे दाशरथि राम, वासुदेव कृष्ण, गौतमबुद्ध, महावीर स्वामी और इनके पश्चात् अनेक महापुरुषों के उदाहरण हमारे सम्मुख हैं; मनुष्य माता-पिता की संतान होते हुए भी जिन्हें भगवान् कहा जाता है। इन महापुरुषों ने अपने अन्दर धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, शुचिता, इन्द्रियनिग्रह, विद्या, सत्य, अक्रोध, अहिंसा, ब्रह्मचर्य,

११. डॉ फतहसिंह, भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका से उद्धृत।

अपरिग्रह, तितिक्षा आदि दिव्यगुणों का विकास कर उस ऐश्वर्य को प्राप्त किया जिसे वेद अरं, तत्, वरेण्यभर्गः, भग, भद्रम्, सु आदि नाम से पुकारा गया है।

दूसरे शब्दों में 'अर्य' शब्द जहाँ जीवात्मा के व्यष्टिगत विकास की ओर इंगित करता है तो वहीं 'आर्य' समष्टिगत विकास की ओर। अर्य को आर्यत्व प्रदान करने में सहायता उसके स्थूल स्तर के प्राण करते हैं। अहंबुद्धि, मन और पंचज्ञानेन्द्रियों के सप्तक को अपने तप द्वारा नियन्त्रित करता हुआ साधक अपनी योग-साधना का प्रारम्भ अन्नमयकोश से ही करता है। अतः सर्वप्रथम उसे यम-नियम का अभ्यास करना होगा। इनमें यम व्यष्टिगत साधना का प्रथम सोपान है तो नियम समष्टिगत (सामाजिक) साधना का। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (सम्पत्ति संचय न करना) इन पांच गुणों का विकास यम के अन्तर्गत आता है। स्वाध्याय, यज्ञ, इन्द्रियनिग्रह, शौच और तप नियमों के अंतर्गत कहे गये हैं। अतः मनुस्मृति में कहा गया है कि ''बुद्धिमान् पुरुष सदा यमों का पालन करें, नित्य नियमों का ही पालन न करें, क्योंकि जो यमों को नहीं पालता और केवल नियमों को पालता है वह पतित होता है।''**(यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः। यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन्।।(म.स्मृ. ४/२०४)**

अतः यम तथा नियम का पालन साथ-साथ होना चाहिए तभी व्यक्ति का व्यष्टिगत और समष्टिगत विकास होगा।

पहिए के अरे कैसे बनें ?

मनसा वाचा कर्मणा शुद्ध हुए व्यक्ति की सारी चेतनाएं अब उसके प्रज्ञानाग्नि की सेवा उस प्रकार करने लगती हैं जिस प्रकार पहिए के सारे अरे केन्द्र में एकजुट हो जाते हैं (सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यत अरा नाभिमिवाभितः अ.वे. ३.३०.६)। इस प्रक्रिया का आधार है-भावात्मक एकता। वेद की भाषा में इसे संवनन कहते हैं। भावात्मक एकता से परिवार का निर्माण होता है तो सामाजिक संगठन भी इसके बिना सम्भव नहीं। ऋग्वेद १०.१९०.१ में समाज के सब लोगों को अतिशय संगठित करने के लिए 'वृषा' अग्नि से जो प्रार्थना की गई उसमें आर्यत्व प्राप्त करने का तरीका सुझाया गया है। उसका डॉ. फतहसिंह कृत हिन्दी भावानुवाद प्रस्तुत है: –

अतिशय संगठन हेतु, हे वर्षक-अग्नि! व्यक्तियों के विश्वों का,
करो एक आ-अर्य संगठित, सार्वभौम मानव-समाज को।
बुद्धि-भूमि में जो मानव के, होते हो समिद्ध तुम अविरल
सो तुम हम सबके वसुओं को, एकत्रित करके दो संबल।। (ऋक् १)

मिलकर चलो, एक स्वर बोलो, एक दूसरे के मन को जानो,
तो होगा संज्ञान; युक्त हों, जिससे सारे अंग तुम्हारे।
सब मिल सबकी सेवा में, तत्पर हो संज्ञानपूर्वक,
निज निज भाग बिना मांगे ही, पा जाते हैं न्यायपूर्वक।। (ऋक् २)

यदि मिलकर मन्त्रणा करो तुम, एक रहे संगठन तुम्हारा,
सबके मन मिल जाएं, चित्त भी, सबके ही यदि एक साथ हों।
तो मैं तुम सबको ही करता, अभिमन्त्रित एक मन्त्र से,
और यज्ञ सामूहिक सबका सम्पादित हो एक हविष् से।। (ऋक् ३)

हो समान भावना तुम्हारी, हृदय तुम्हारे भी समान हों,
होवे मन का मेल तुम्हारा, जिससे सह-अस्तित्व सुष्ठु हो। (ऋक् ४)

संक्षेप में, जिसने श्रेष्ठतम कर्म रूप यज्ञ द्वारा अपने अन्दर केन्द्रीभूत उस अरंज्योति को प्राप्त कर लिया है, वह व्यक्ति व्यष्टिगत रूप में अर्य है, क्योंकि उसमें पहिए के केन्द्र से जुड़े हुए अरों के समान सामूहिक रूप से उत्तरदायित्व को वहन करने का गुण आ गया है। यही जब अपने इस अर्यत्व के साथ भौतिक तथा सामाजिक पर्यावरण से जुड़ता है, तो आ+अर्य=आर्य कहलाता है। यह आर्यत्व साधन है उत्कृष्टता का ।

वेद में एक वाक्य है – **अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व।** इसके उत्तरार्द्ध को कृषि विश्वविद्यालयों ने अपना ध्येय वाक्य बनाया है। सामान्यत: प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियों के माध्यम से शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श की ओर आकर्षित होता है। ये इन्द्रियां ही वेद-वाक्य में वर्णित अक्ष अर्थात् पासे हैं। वेद का ऋषि हमें सावधान करता हुआ कहता है कि इनसे मत खेलो, कृषि ही करो। सन्दर्भ को देखते हुए ''कृषिमित् कृषस्व'' का अर्थ होगा इन्द्रियों को उनकी विषयासक्ति से हटाकर अन्तर्मुखी करना। इन्द्रियों के माध्यम से विषयों में आसक्त व्यक्ति को वेद में 'कृष्टि' कहा गया है। जब यह कृष्टि' ऐन्द्रिक प्रलोभनों के वशीभूत होकर असहाय हो जाता है तो वह 'निकृष्ट' कहलाता है। विषय-भोगों से विरत होता हुआ कृष्टि जब अपने विश्व स्तर में प्रवेश करता है और स्वविवेक को जागरित रखकर सांसारिक प्रलोभनों और आकर्षण सामग्रियों का साधन रूप में प्रयोग करता है तो वह 'उत्कृष्ट' हो जाता है। उत्कृष्ट बनने के लिए न केवल हमें व्यक्तिश: नम: साधना करनी होगी, अपितु दूसरे के लिए भी नम: वर्धन की कामना भी करनी चाहिए। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदों में नम:साधना के मन्त्रों का सार

उद्धृत कर ''नमस्ते'' को बहुप्रचलित किया। इसका सम्पूर्ण भारत में एक–दूसरे का अभिवादन करने के लिए प्रयोग किया जाता है। ''नमस्ते'' (नम:+ते) एक पूर्ण वाक्य है जिसके द्वारा अभिवादनकर्ता एक–दूसरे की नम: साधना वर्धन की कामना करते हैं। नमस् का अर्थ है प्राणों का स्थूल से सूक्ष्म की ओर आरोहण। इसके लिए स्थूल स्तर के प्राणों को प्रतिदिन प्रतिक्षण प्रज्ञानाग्नि के समीप जाना होगा। –

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्धिया वयम्।
नमो भरन्त एमसि।। (ऋ.१.१.७)